पंचम अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी के उपन्यासों में चित्रित प्रगतिवाद

पंचम अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी के उपन्यासों में चित्रित प्रगतिवादी

प्रगतिवाद – उत्पत्ती और स्वरुप

प्रतिवाद का उद्देश्य और उसकी विशेषताएँ

आलोच्य उपन्यासों में प्रगतिवाद

(रतिनाथ की चाची, बलचनमा, गंगा मैया, बाबा बटेसरनाथ, मैला आँचल के संदर्भ में)

पंचम अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में चित्रित प्रगतिवादी

प्रास्ताविक :–

साहित्य मानव जीवन का एक अविभाज्य अंग है। साहित्य में जो परिवर्तन होते आ रहे हैं उन्हें 'साहित्यिक आंदोलन', 'साहित्यिक क्रांति' या 'साहित्य में नया मोड़' भी कहा जाता है। साहित्य में जो नई रचनात्मक प्रवृत्ति आई है, उसके लिए 'साहित्यिक आंदोलन' यह शब्द स्वीकृत और प्रचलित हो गया है। इस साहित्यिक आंदोलन को 'युग', 'धारा', 'प्रवृत्ति' आदि नामों का भी प्रयोग किया जाता है। इसके लिए एक बहुप्रचलित शब्द 'वाद' भी रहा है। भारत के दर्शन की विभिन्न पध्दतियों में 'वाद' शब्द का बार–बार प्रयोग हुआ है। द्वैतवाद, अद्वैतवाद, सर्वात्मवाद, आदर्शवाद, भौतिकवाद आदि दर्शन की विभिन्न विचार पध्दतियों के पर्याय है। दर्शन की इस पध्दति के ग्रहण करते हुए साहित्य आगे बढा। परिणामतः साहित्य में भी वाद शब्द का महत्व बढ गया। हिन्दी साहित्य में कल्पनावाद, अभिव्यंजनावाद, रसवाद, राष्ट्रवाद ऐसे कई वाद आए और बाद में लुप्त भी हो गए। साहित्य के इस बदलते परिवशे को तथा साहित्यिक आन्दोलन को अनेक विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयास किया किन्तु वे इसमें सफल नहीं रहें। जी. हैरिसन ओरियन्स ने साहित्यिक आंदोलन के बारे में कहा है – "साहित्यिक आन्दोलन निर्जीव वस्तुओं का ऐसा ढेर नहीं है, जिसे समय या अन्य किसी ने कहीं डाल दिया हो, वह तो ऐसा साकार जीव है, जिसका विकास धीमा होता है। रबड़ के धागे के समान एक धारा या प्रवृत्ति जीवन की ऊपरी सतह पर उपस्थित हो सकती है और दीर्घ अवधि तक के लिए अदृश्य भी हो जा सकती है। यह आन्दोलन फौजी आदेश के समान आकस्मिक रुप से एकाएक रुक भी नहीं सकता।"[1] इससे यही स्पष्ट होता है कि साहित्यिक आन्दोलन का जन्म, विकास, पतन होता है, उसके विकास की गति धीमी होती है। साहित्यिक आन्दोलन की अपनी एक प्रकृत गति होती है, वह स्वाभाविक रुप में ही संपन्न हो

सकता है। वस्तुतः अगर कुछ लेखक आपस में एक कार्यक्रम बनाकर कोई रचना प्रवृत्ति आरंभ करे तो साहित्यिक आन्दोलन का सूत्रपात हो सकता है अथवा भिन्न–भिन्न लेखक अपने समसामायिक जीवन के बोध से संपृक्त हो तो समानता का एक धरातल उन्हें मिल सकता है। और इसी से साहित्यिक आन्दोलन का सूत्रपात हो सकता है। इस बारे में डॉ. सरिता माहेश्वर लिखती है – "जिसप्रकार मनुष्य के उद्‌भव के कारण जैविक विकास की प्रक्रिया में निहित हैं, उसीप्रकार साहित्यिक आन्दोलन के उद्‌भव के मूल कारण मनुष्य के सांस्कृतिक विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया में पाये जाते है।"[2] इसके बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं – "इन बहुत सी 'वाद' – व्याधियों का प्रवर्त्तक है – 'व्यक्तिवाद' जो बहुत पुराना रोग है। पुराने लोग जल्दी पीछा नहीं छोडते – एक न एक रुप में बहुत दिनों तक बने रहते है।"[3] व्यक्तिवाद में व्यक्ति को महत्व दिया जाता है। व्यक्तिवाद मनुष्य के बौध्दिक विकास की एक अवस्था – विशेष है। अंग्रेजी में व्यक्ति के महत्व की उद्‌घोषण का 'रोमांटिक आन्दोलन', फ्रेंच में 'प्रतीकवादी आन्दोलन' हिन्दी में 'छायावादी आन्दोलन' और बंगला में 'कल्लोल युग' नाम से प्रारंभ हुई थी। जर्मनी में उत्पन्न 'अभिव्यंजनावाद' इग्लैड का 'चित्रवाद' और फ्रांस का 'प्रतीकवाद' आदि इसके उदाहरण ही है।

प्रयोगवाद :–

नई काव्य धारा का सूत्रपात से पुरानी काव्य धारा की गति एकाएक अवरूध्द नहीं होती। यही कारण है कि छायावादी युग में द्विवेदीकालीन कविताएँ लिखी गई और प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी युग में छायावादी शैली की रचनाएँ लिखी जाती रहीं। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मंच पर होनेवाली उथल–पुथल का प्रभाव तत्कालीन साहित्यकार पर पड़ा इसकारण साहित्य का स्वर बदल गया। समाज में मजदूरों और किसानों का शोषण जोर पकड़ने लगा। उद्योंगों के विकास के साथ–साथ पूंजीपति वर्ग का जन्म हुआ। विश्व युध्द के भीषण नरसंहार सेउपजी विभीषिका मानवद्रोही थी। समाज के नवनिर्माण में रुढियाँ कुसंस्कार और अंधविश्वास रोड़े बने हुए थे। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था में एक गहरी असंगति और अव्यवस्था थी। इन परिस्थितियों से प्रभावित साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं द्वारा इसे व्यक्त

करने का प्रयास किया। इस समय समग्र रुप से देखनेपर यही पता चलता है कि दो धाराएँ एक साथ विकसित हो रही थी। एक धारा के अन्तर्गत जनता के दु:ख दर्द की गाथा गायी जा रही थी। और दूसरा वर्ग कला को प्राथमिकता देकर अपनी रचना कर रहा था। पहली काव्यप्रवृत्ति को 'प्रगतिवाद' संज्ञा दी गई और दूसरी को 'प्रयोगवाद' कहा गया। यद्यपि दोनों धाराएँ समानान्तर चली है, लेकिन दोनों के काव्य–सृजन का क्षेत्र अलग रहा है। एक जनवादी विचारों से लैस होकर विश्व में घटित घटनाओं के प्रति सजग थी तथा देश में हो रहे क्रांतिकारी परिवर्तनों को समझ रही थी। यह धारा मार्क्सवादी दर्शन से प्रेरित वैज्ञानिक दृष्टिकोण लेकर चली तो दूसरी निराशा, कुंठा आदि में डूब गई। यह धारा समाज–विरोधी और व्यक्तिवादी धारा थी। इसमें निराशावादी साहित्यकारों ने अपने भीतर एक संसार का निर्माण कर लिया था और उसी में रमने लगे थे। यह एक आत्मकेंद्रित धारा बन गई।

आरंभ में 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' के कवि साथ–साथ रचना करते रहे, लेकिन 'तार–सप्तक' के प्रकाशन के वाद दोनों वर्ग के कवि दो पन्थों के पथिक हुए। हरिनारायण व्यास को 'प्रगतिवाद' तथा 'प्रयोगवाद' का सैध्दांतिक अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "प्रगतिवाद ने भौतिक सत्य को अपनी आधार भूमि बनाया और 'प्रयोगवाद' ने मानसिक यथार्थ को 'प्रगतिवाद' का भौतिकता पर आधारित सामाजिक यथार्थ साहित्य में शीघ्र ही प्रविष्ट हो गया और 'प्रयोगवाद' की आधारभूति दीर्घकालीन साहित्य में स्वीकृति नहीं पा सकी।"[4]

साहित्यिक आन्दोलन के कारण इसीतहर अनेक वादों की निर्मिती हो गई। ये सभी वाद कुछ काल तक आकर समाप्त हो गए। हर वाद का एक उद्‌देश्य, प्रमुखता रही है। छायावाद में व्यक्ति को महत्व दिया गया तो प्रयोगवाद में सौन्दर्यप्रियता और कल्पकता पर आधारित मूल्यों की महत्ता रही। लेकिन प्रगतिवाद सत्य पर आधारित सामाजिक संबंधों को महत्व देता है और इसीकारण प्रगतिवाद का अस्तित्व दिर्घकाल तक दिखाई देता है।

<u>प्रगतिवाद</u> :–

विश्व–साहित्य में प्रगतिवाद मूलतः साम्यवादी विचारों की स्थापना करने का एक सशक्त माध्यम है। वर्ग संघर्ष की साम्यवादी विचारधारा इसका मूल उद्देश्य बनी है। इसी संदर्भ में साहित्यकारों ने एक क्रांतिकारी कदम उठाया। हिन्दी में अनेक सामन्तवादी नायक और उनके गौरवमय चरित्र साहित्य के माध्यम से प्रकाश में आए, किन्तु सामान्य मानव की जीवनगाथा प्रकाश में नहीं आई। प्रगतिवादी लेखकों ने अपने साहित्य का उद्देश्य लोकजीवन के बीच से एक नए मानव और नए नायक की खोज करना स्वीकार किया इसके द्वारा जो समाज की समस्त पतनशील प्रवृत्तियों के विरोध में जनसाधारण की शासनसत्ता को उभरने का सुअवसर प्रदान कर सके। अतः स्पष्ट है कि प्रगतिवादी चिन्तन की आत्मा साम्यवाद में निहीत है। इसका उद्देश्य और लक्ष्य जनवादी शक्तियों को संघटित करके मार्क्सवाद और भौतिक यथार्थ वाद के आधारपर निर्मित मूल्यों को प्रतिष्ठित करना है। मार्क्स ने विश्व को सर्वहारा–संघर्ष का मूल–मंत्र दिया। श्रमशक्ति का साहित्यकारों ने पूरी तरह चित्रण किया है। प्रगतिशील साहित्य युग के संदर्भ में सामाजिक संबंधों को ही सत्य और शाश्वत मानता है। उसमें काल्पनिकता के लिए जगह नहीं होती। नवचेतना से प्रेरित हुई नूतन सामाजिक मानवता निरंतन पुरातन और जीर्ण–शीर्ण दानवी शक्तियों से युध्दरत रहती हुई, भविष्य में मंगलमय समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहती है। पुरानी विकृतियों, रुढियों–परंपराओं को फेंककर नई शक्तियाँ हाथ में लेकर अनागत भविष्य के लिए अक्षय प्रेरणा स्त्रोत बन जाती है। प्रगतिवादी साहित्य, संघर्ष के द्वारा पुरानी व्यवस्था का विध्वंस कर नवयुग और नई सामाजिक आवश्यकताओं को निर्माण करने का प्रयास करता है। इस बारे में डॉ.रामदरश मिश्र कहते है – "प्रगतिवाद सुधार वादियों की भाँति जर्जर व्यवस्था के सड़े–गले कपड़ों में पैबन्द ज़ोड़ने का पक्षपाती नहीं है और न तो वह गला फाड–फाडकर निरुद्देश्य ध्वंस की पुकार मचानेवाला व्यक्तिवादी विद्रोह है। वह आमूल क्रांति चाहता है।"[5] प्रगतिवाद ईश्वरवाद की अपेक्षा कर्म और पुरुषार्थ को ही सफलता का आधार मानता है। देश और काल के अनुसार मानव की प्रगतिशीलता का कारण केवल भौतिक विकास है, मानव–विवेक ही सारे मूल्यों का सृजन करता है। मार्क्स की विचार धारा

इस बात को नहीं मानती बल्कि इस बात में विश्वास करती है कि मानव विवेक के साथ–साथ मानवीय अनुशासन और सदाचरणों से ही मानव की प्रतिशीलता संभव है। अतः मानव मूल्यों के विकास में प्रगतिशील विचारों की आन्तरिक दृष्टि दिखाई देती है।

प्रगतिवाद उत्पत्ती :–

कोई भी 'वाद' अथवा 'युग' की निर्मिती काल की उपज होती है। इस बारें में राहुल सांकृत्यायन का मत है कि "वाद ऐतिहासिक आवश्यकता के प्रतीक होते है।"[6] किसी भी वाद के निर्माण में काल की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थिति भी प्रभाव डालती है।

परिस्थिति :–

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में भारत में सामन्ती व्यवस्था ने साम्राज्यवाद के सहयोग से शोषण चक्र का आरंभ किया। उसमें व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण, जाति द्वारा जाति का शोषण तथा अफसरशाही, पूंजीवादी आदि ने जोर पकड़ लिया। इस समय शोषकों के दो रुप सामने आए। एक ओर ग्रामीण जन–जीवन में सामन्ती, सूदखोरी, धार्मिक पाखंड, जमींदार आदि किसानों और मजदूरों का खून चूसनेवाली व्यवस्था तो दूसरी ओर शहरों में पूंजीवादी मशीनरी मजदूरों के दमन और शोषण का काम कर रही थी। शोषण के इन रुपों के कारण वर्ग संघर्ष का आरंभ हुआ, जिसमें मार्क्सवादी दर्शन सहायक बना। मार्क्सवादी चेतना के कुछ साहित्यकारों और राजनीतिज्ञों ने जनता में जागृति लाने का प्रयास किया। रुसी क्रांति का प्रभाव, किसान–मजदूरों के संगठन, हड़ताल आखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना, पत्र–पत्रिका, लेखकों की सहयोग वर्गसंघर्ष ओर चेतना पर लेख, अत्याचार, अन्याय का विरोध, क्रांति एवं नवनिर्माण का आवाहन आदि के परिणामस्वरुप प्रगतिवाद प्रभावी बना। इग्लैड में डा.मुल्कराज आनन्द, सज्जाद जहरी, भवानी भट्टाचार्य, जी.सी.घोषण, एम. सिन्हा आदि ने 1935 में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक –संघ'नामक संस्था स्थापित की और उसके उद्देश्यों,

योजनाओं का विस्तृत परिपत्र भारतीय मित्रों को भेज दिया। इस परिपत्र का भारतीय साहित्यकारों पर गहरा प्रभाव पडा। उनमें चेतना की सशक्त लहर आई तथा उन्हें नई दिशा मिली। 1936 के अप्रैल में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई और उसके अध्यक्ष प्रेमचन्द बने। लखनऊ के इस 'प्रगतिशील लेखन सम्मेलन' में बडे उत्साह से हिन्दी और उर्दू साहित्यकारों, प्रादेशिक भाषाओं, बोलियों के रचनाकारों ने पत्रकारों ने बहुत बडी संख्या में भाग लिया। 1938 में कलकत्ता में इसका सम्मेलन हुआ, इसकी अध्यक्षता के लिए रविंद्रनाथ ठाकुर को आमंत्रित किया लेकिन अस्वस्थता के कारण नहीं आए। 1940 में पूना में इसका सम्मेलन हुआ इसके अध्यक्ष पं.नन्ददुलाने वाजपेयी थे।

प्रगतिवादी चेतना सामाजिक यथार्थ तथा विश्व राजनीति के समूचे परिप्रेक्ष्य से उत्पन्न हुई। भारत की अपनी प्रगतिशील राष्ट्रीय चेतना तथा ब्रिटीश साम्राज्य के विरुध्द संघर्षरत भारतीय जनता की आकांक्षाओं के साथ विभिन्न प्रकार के अन्य सामाजिक, राजनीतिक संदर्भ भी जुड़े हुए थे। सन 1930 से सन 1947 तक का काल क्रांतिकारी और उथल–पुथल वाला था। ब्रिटीश साम्राज्य में किसानों और मजदूरों का होनेवाला शोषण, द्वितीय विश्वयुध्द की विभीषिका, बंगाल का भयंकर अकाल, महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन, देश का विभाजन, सांप्रदायिक दंगों का आरंभ, 1947 को भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता इनका प्रभाव बौध्दिक वर्गों पर पडा। इसीकारण जनवादी तथा मानववादी कवियों की रचनाओं में इन सभी परिस्थितियों का प्रतिबिंब देखने को मिलता है।

प्रगतिवाद को केवल साहित्यिक रुप में ही स्वीकार नहीं किया गया बल्कि जीवन दर्शन के रुप में भी स्वीकार किया गया। शिवदान सिंह कहते है – "हिन्दी की आधुनिक प्रगतिवादी प्रवृत्ति का आकस्मिक विकास नहीं है, बल्कि हमारे राष्ट्रीय जागरण काल की सबसे स्वस्थ, सजीव परपराओं का स्वाभाविक, जिसे अनिवार्य भी कह सकते है, विकास है।"[7] मानवतावादी तथा जनवादी साहित्यकार अपनी आस–पास की परिस्थिति को जैसे देश में व्याप्त अन्याय, शोषण, विषमता को नजर अंदाज नहीं कर सकता है। उसे अपने दायित्व के प्रति

सजग रहना पडता है। तभी वह सच्चा साहित्यकार बन सकता है। इसके बारे में अग्रवाल का कथन है कि "आज के साहित्यकार को ऐसे ही साहित्य की सृष्टि करनी चाहिए जो मनुष्य के अज्ञान, जड़ता, अंधी परंपरा, बौध्दिक दारिद्रय और कायरता को दूर करके मानव मात्र में आत्मबल का संचार कर सके।"[8] प्रगतिवादी साहित्य इसका प्रमाण ही है। प्रगतिशील साहित्य समाज के क्रांतिकारी तत्वों को लेकर चलनेवाला साहित्य है। यह साहित्य दलित, शोषित, समाज की क्रांतिकारी शक्तियों को उभारता है उनकी शक्ति को संगठित करता है, उनकी पीड़ा को मुखरित करता है, उन पर होनेवाले अत्याचार का तीव्र विरोध करता है। यह साहित्य जनता की दुर्दशा का भी चित्रण करता है।

प्रगतिवादी साहित्य का प्रमुख उद्देश्य जनता में राजनीतिक, सामाजिक चेतना का विकास करना है। साथ ही जनसाधारण की मानसिकता को विकसित करना, जनता में अस्मिता का निर्माण करना आदि है। प्रगतिवाद का मूल स्वर निर्माण में निहित दिखाई देता है। विध्वंस का आहवान केवल निर्माण के लिए ही किया गया है। प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थ का इसप्रकार चित्रण करता है कि कुरुप, शोषक, सडी–गली, विसंगति ग्रस्त शक्तियों का पर्दाफाश हो और नई सामाजिक शक्तियों के संघर्षो, युयुत्सा और आस्था को बल मिले। यही दृष्टिकोण प्रगतिवादी साहित्य के सर्जना के मूल में काम कर रहा है।

<u>प्रगतिवाद उपलब्धियाँ</u> :–

सभी काव्य आन्दोलनों में प्रगतिवाद का एक अलग स्थान रहा है। काव्य रचना को प्रगतिवाद ने प्रभावित किया है और काव्य रचना को नए आयाम दिए है। इन आयामों द्वारा प्रगतिवाद का स्वरुप निश्चित हो गया तथा उसकी विशेषताएँ भी महत्वपूर्ण बनी है जो इसप्रकार है –

1) <u>द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दर्शन</u> :– द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को प्रगतिवाद ने अपनी काव्य–चेतना का आधार बनाया। हिन्दी काव्य में द्वंद्वात्मकता भौतिकवादी दर्शन और वैज्ञानिक दृष्टि का सारा श्रेय प्रगतिवादी को दिया जाता है। उसमें मनुष्य के जीवन से संबंधित सभी वस्तुओं,

परिस्थितियों, प्रकृति को अपने काव्य का लक्ष्य बनाया। पुरानी जीर्ण–शीर्ण विकृतियों के प्रति विरोध और भविष्य में मंगलमय समाज की स्थापना यही, मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दर्शन का सार तत्व है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद एक नया जीवन दर्शन के रुप में प्रस्तुत हो गया और बीसवीं शताब्दी के मनुष्य को एक नई दृष्टि, नई दिश मिली।

2) <u>नई सौन्दर्य दृष्टि</u> :– प्रगतिवाद ने उच्च वर्गीय अवधारणाओं के बजाय मेहनतकश जनता तथा उसके द्वारा किए गए श्रम और निर्माण उत्पादन आदि को आधार बनाकर सौन्दर्य का नया रुप प्रस्तुत किया।

3) <u>काव्य वस्तु का विस्तार</u> :– प्रगतिवाद की सामाजिक चेतना ने काव्य की सीमाओं को असीम बना दिया। काव्य में जिन विषयों को वर्जित किया गया था उसे प्रगतिवाद ने विषय वस्तु बनाकर स्थापित किया। इसने न केवल काव्य की अन्तर्वस्तु को व्यापकता प्रदान की बल्कि इसकी गहराई तक जाकर काव्य वस्तु का विस्तार भी किया और काव्य को सामाजिक परिवर्तन का अस्त्र बनाया।

4) <u>यथार्थवादी दृष्टि</u> :– प्रगतिशील साहित्यकारों के विचारों में सामाजिक संघर्ष और क्रांति की भावना है। पुरानी रुढ़ि–परंपराओं तथा जीर्ण–शीर्ण विकृतियों के प्रति विरोध और मंगलमय समाज की स्थापना यही प्रगतिवादी काव्य का लक्ष्य है।

5) <u>लोक कलाओं का उन्नयन</u> :– प्रगतिवाद ने काव्य को लोक कलाओं एवं लोक जीवन से जोडने का प्रयास किया। प्रगतिवादी ने लोकगीतों को साहित्यिक दर्जा दिया और कविता को एक नया मोड प्रदान किया।

6) <u>नई भाषा, नई शैली</u> :– प्रगतिवादी काव्य ने नई विषयवस्तु के साथ नई भाषा का निर्माण किया। परिस्थिति का सफल चित्रण, मानवता और नई चेतना का एवं जनवादी चेतना का अंकन करने का पूरा श्रेय प्रगतिवादी काव्य को जाता है। इस कार्य में भाषा शैली का स्थान महत्वपूर्ण है। भोजपुरी, मगधी, अवधी, मैथिली आदि भाषा और बोलियों से शब्दों और मुहावरों को

लिया है। विभिन्न अलंकारों, उपमाओं का प्रयोग करके व्यंग्यात्मक शैली का निर्माण किया।

इसप्रकार प्रगतिवादी साहित्य ने हिन्दी साहित्य को एक नया योगदान प्रदान किया।

निष्कर्ष :-

प्रगतिवाद का आधार मार्क्स की विचारधारा है और साहित्य का समाजवादी यथार्थ प्रगतिवाद है। प्रगतिवादी लेखकों की दृष्टि में वही साहित्य सफल है, जो शोषित मानवों की पीड़ा, वेदना तथा उनके प्रति किए गए शोषण और अन्याय का पर्दाफाश कर सके, मेहतनकश मजदूरों की आवाज को बुलंद कर सके, आर्थिक विषमताओं के मूल कारणों को समाप्त करने की दिशा में प्रयास करे, उपेक्षित और पीड़ित लोगों का चित्रण कर सके।

विश्व के प्रगतिशील उपन्यासकारों ने मानव के आर्थिक पहलू को ही विशेष महत्व दिया। युगों युगों से चली आई हुई शोषण चक्र में पिसते हुए मानव-जीवन की कहानी साहित्यकारों और पाठकों के लिए आकर्षण का केंद्र बनी। साहित्यकारों के लिए लेखनी का प्रेरणा स्त्रोत बन गई। परिणामतः मानवी जीवन की यथार्थ धरातल को उजागर करने का कार्य प्रगतिवादी साहित्यकारों ने किया है।

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी उपन्यासकारों का योगदान भी महत्वपूर्ण है। उपन्यासों के पात्र, प्रगतिवादी विचारों से प्रभावित है। नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, शिवशंकर शुक्ल, भगवती प्रसाद वाजपेयी, यशपाल, शिवप्रसाद सिंह, शैलेश मटियानी आदि जैसे कई उपन्यासकारों की कृतियों में इसके दर्शन होते है। शिवशंकर शुक्ल के 'मोगरा' (1970) में चमार चरणदास परंपरागत धंदा छोडकर सरकारी कर्ज लेकर मुर्गी पालने का धंदा करता है। सत्यप्रकाश पाण्डेय के 'चंद्रवदनी' (1971) में क्रांतिकारी घोषाल डॉ.रेणु संगठन शक्ति के बलपर पुलिस शोषण के खिलाफ संघर्ष करते है। बलि प्रथा का विरोध करते है। भगवती प्रसाद शुक्ल के 'खारेजल का गाँव' में जातीय भेदाभेद का विरोध करनेवाला सुग्रीव प्रगतिवाद का प्रतीक है। नरेंद्र देव वर्मा के 'सुबह की तलाश' (1972) में फागुन पंडित जातीय भेदाभेद को उखाड़कर

फेंक देता है और जनआंदोलन की स्थापना करता है। तो हिमांशु जोशी के कगार की आग (1976) की गोमति पति हत्या के प्रतिशोध की आग में कालभैरवी बनकर जमींदारों के प्रति संघर्ष करती है।

प्रस्तुत अध्याय में आलोच्य उपन्यासों में दिखाई देनेवाली प्रगतिवादी विचारधारा को रेखांकित करने का प्रयास किया है। आलोच्य कृतियों में भी नई विचारधारा से प्रभावित पात्र दिखाई देते है। संक्षिप्त रुप में इसपर सोचा है।

नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची' (1948) उपन्यास में प्रगतिवाद के दर्शन स्पष्ट रुप से लक्षित होते है। विधवा नारी की समस्या पर लिखा हुआ यह उपन्यास प्रगतिवादी दृष्टिकोण का प्रतीक है। समाज में विधवा नारी की स्थिति, समाज का विधवा नारी की ओर देखने का दृष्टिकोण उसपर थोंपे हुए रुढ़ि, प्रथा, परंपरा के बंधन आदि का जीवंत लेखा–जोखा इस उपन्यास में स्पष्ट किया गया है।

नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची' का चाची एक ऐसा पात्र है, जो समाज से बहिष्कृत जीवन जीता है। देवर की वासना की शिकार बनी चाची को समाज ने ताना देकर बिरादरी से बाहर निकालकर उसके साथ दुर्व्यवहार किया खुद उसका लडका उमानाथ भी उसे समझ नहीं पाता और उसे पीटता है। केवल रतिनाथ उसे समझ पाता है। अंत में वह पात्र प्रगतिवादी दर्शाया गया है। चाची ताराचरण की मदद से विश्वभर की खबरें रखती है। रुस पर हमला कर दिया यह सुनकर उसे बेहद खेद होता है। चाची कहती है – "कैसा दिमाग है दरिदर का। मुदा बच्च–बच्चा कर मरेगा तभी रुस दखल होगा।"[9] चाची को केवल अपने गाँव की ही नहीं तो विश्व की चिंता सताती है। इसीतरह गाँव तथा समाज से बहिष्कृत होनेवाली चाची अंत में सारे गाँव की मुखिया अर्थात नेता बन जाती है। यह परिवर्तन केवल चाची में ही दिखाई देता है ऐसा नहीं तो पूरा शुभंकरपूर गाँव में परिवर्तन हो जाता है। शुभंकरपूर गाँव के जमींदार दुर्गानंदसिंह ने गाँव के किसान मजदूरों को संगठित करता है और गाँव में सुधार करवाता है। इसका वर्णन करते हुए उपन्यासकार लिखते है – "ताराचरण के रुप में नये नेतृत्व

का उदय हुआ था। बूढ़े पहले कुछ दिनों तक उसे मान्यता देने को तैयार नहीं थे परंतु बाद में उन्हें झूकना पडा। बूढे समाजपति पुराना अधिकार कायम रखने के लिए हाथापाई करके कई बार शिकस्त खा चुके थे। .... राजा बहादुर के दामाद ने किसी देशी नाटक मंडली को बुलाया था। उनका विचार था कि शुभंकरपूरवाले भी आकर नाटक देखें, वे हमारी प्रजा है। उन्हें अलग से बुलावा भेजने की जरुरत ही क्या है? नवयुवक अड गए, बिना बुलावा के हम क्यों जाएँगे? .... ताराचरण ने कहा – जमाना बदल गया है, हम जब अंग्रेजों की नाक में कौडी बाँधते है तो राजाबहादुर की क्या बिसात? उनका दामाद खुद आकर हमें लिवा ले जाय, तब चलेंगे। अन्त में हुआ यही कि दो–एक बूढों को छोडकर और कोई नहीं गया।"[10]

शुभंकरपूर में गाँव का विकास करनेवाला ताराचरण प्रगतिवादी विचारधारा का वाहक बनकर गाँव में एकात्मकता की शक्ति को बढाता है। गाँव का सुधार करके जातिभेद मिटाकर जमींदारों के अत्याचार का संगठित रुप से मुकाबला करते है। जातीय भेदाभेद मिटाना प्रगतिवादी चेतना का लक्षण ही है।

नागार्जुन के 'बलचनमा' (1952) उपन्यास का बलचनमा अन्याय विद्रोह के खिलाफ आवाज उठाता है। किसान, मजदूरों का संगठन बनाता है। गाँव के जमींदार मझले मालिक के अत्याचार के कारण बलचनमा को अपने पिता को बचपन में ही खोना पडा। बचपन में ही उसे मालिक के यहाँ नौकरी पर रख लिया गया लेकिन मालिक के अत्याचार फिर भी कम नहीं हुए। मालिकाइन ने उस पर मन चाहे जुल्म ढालना शुरु किया। बलचनमा निर्धन होने के कारण उसे अपने जीवन में कई दु:खों का सामना करना पडता है। बलचनमा कहता है – "न जाने कै घडा आंसू से हमारा बचपन सींचा गया था।"[11] जीवन की ये स्मृतियाँ केवल बलचनमा तक ही सीमित नहीं है। ऐसे अनेक बलचनमाओ को नागार्जुन ने करीब से देखा होगा। इसलिए कहा गया है, बलचनमा संपूर्ण निम्नवर्ग का प्रतीक बन गया है। नागार्जुन ने कहा है, बलचनमा संपूर्ण निम्नवर्ग का प्रतीक बन गया है। नागार्जुन बलचनमा को जूठन खाते, खुरखुन को निर्धनता में जीवन व्यतीत करते हुए तो चित्रित करते ही है, साथ ही उनमें चेतना का

विकास और उन्हें अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सजग भी करते है। नागार्जुन का बलचनमा: अभावों में जीवन व्यतीत करते हुए भी अपनी विकसित चेतना से जीवन की दिशा ढूँढने का प्रयास करते है। पात्रों के बीच से व्यंग्य और आक्रोश स्वंय नागार्जुनजी ने किया है। अतः बलचनमा में प्रगतिवाद का स्वर मुखरित होता है।

बलचनमा के गाँव में धीरे धीरे क्रांति के बीच बोए जाते है। किसान संगठित होकर अपने हक्क के प्रति सजग होते है। फूलबाबू तथा अन्य नेता लोगों की बेईमानी से लोग परिचित होते है। गाँव में अखबार शुरु होता है। बच्चू अखबार पढ़कर किसानों को सुनाता है। बच्चू "किसान सभा" की स्थापना करके अनेक किसानों को सदस्य बनाता है । किसान भी उसे सहायता करते है। इसके बारे में उपन्यासकार लिखते है – "समूचे गाँव में पचास एक मेम्बर बने होंगे। महपूरा के किसानों की लडाई का ही यह असर था। मालिकों और बडे किसानों को छोडकर बाकी सबकी दिलचस्पी थी पडोसी इलाके के उस आंदोलन की ओर मनियार चाचा से लेकर शेख अब्दुल तक, तारानंदबाबू से लेकर तीरी अमात तक और फूदन मिसिद की विधवा से लेकर मोमिन मोसंमाज हमीदा तक ... सबने मेंबरी की रसीद ली और एक–एक आना दिया।"[12] किसान संगठन, किसान सभा की स्थापना, सदस्य बनाना नई चेतना का प्रतीक है।

भैरवप्रसाद गुप्तजी के 'गंगा मैया' (1953) में दीयर का महरु प्रगतिवाद के रुप में प्रस्तुत हुआ है। मटरू एक पहलवान था लेकिन पहलवानगी खत्म होने पर वह गंगा के किनारे खेती करने लगा। पहलवान होने के कारण सभी उससे डरकर रहते थे। जमींदार उसे झूठे जुल्म में जेल भेज देते है, तब मटरू अपने तीन साल की सजा खत्म होते ही दुगुने जोश से गाँव के किसानों को इकठ्ठा करके जमींदार के खिलाफ आवाज उठाता है। सब किसान संगठित होते ही जमींदार कुछ नहीं कर पाते। महरु गंगा नदी के किनारे अपना अधिकार फिर से जमा लेता है। सभी किसान गंगा नदी के तट पर अपनी झोपडियाँ बनाकर वही रहते है और खेती करते है। इसीतरह मटरू जमींदारि प्रथा के खिलाफ अपनी आवाज को उठाकर सारे किसानों को जमींदार के अत्याचार से मुक्त करता है।

यह उपन्यास विधवा नारी की जीवन कथा है। भैरवप्रसाद गुप्त के 'गंगा मैया' उपन्यास में महरु के संघर्षशील जीवन के माध्यम से गोपी की भाभी को वैधव्य के कारण मरने की नहीं संघर्षशील रहकर जीने की प्रेरणा देता है। ज़िंदगी के बारे में उनका विचार है – "यह जिन्दगी जीने के लिए है, परिस्थितियों से लडकर जीने का नाम जिन्दगी है, मन छोटा करके इस दुनिया में नहीं जिया जा सकता।"[13] लेखक ने भाभी के चरित्र में प्रगतिशीलता का समावेश किया है। वह पूजा–पाठ तथा रामायण पढ़ने को आध्यात्मिक तृप्ति के अतिरिक्त वक्त काटने का साधन मानने लगती है। भाभी के माध्यम से लेखक ने एक अशिक्षित नारी के मनोविज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया है। देवर के दूसरे विवाह की कल्पना भाभी को सहीं नहीं जाती। पुरुष को दुबारा विवाह करने का अधिकार समाज देता है लेकिन नारी के लिए वह अधिकार नही। भाभी के मन का यह प्रश्न रुढ़ सामाजिक परंपराओं को चुनौती देता हुआ समाज में नारी व पुरुष के अधिकारगत भेद–भावों पर आघात करता है। विधवा नारी को तिल–तिल घुटकर शेष जीवन व्यतीत करने के लिए समाज विवश करता है और विधुर पुरुष को दूसरा विवाह करके फिर अपने जीवन को सुखमय बनाने का अधिकार देता है। भाभी और गोपी का विवाह संबंधी निर्णय सामाजिक रुढ़ विचारों को चुनौती देता हुआ लेखक के नवीन प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचायक है। गोपी पिता के समक्ष भाभी के साथ अपने विवाह का प्रस्ताव रखते हुए कहता है – "एक चली आई खोखली रीति, समाज के थोथे रिवाज, सडी–गली एक रुढि, कुल की झूठी मर्यादा के दंभी पुजारी माँ–बाप आज अपने खूनी जबड़े में एक फूल सी सुकुमार, गायसी निरीह, रोगी सी दुर्बल, निहत्थी–सी अपनी रक्षा करने में बेबस, कैद–सी गुलाम, सुबह के आखिरी तारे–सी अकेली युवती को दबाकर चबा डालना चाहते है।"[14] विवाह का प्रस्ताव रखना, उसका विरोध होने पर भाभी द्वारा खुदखुशी करने का प्रयास करना, अंत में उसकी रक्षा करना और रुढ़ि–परंपरा को ठुकराकर विवाह कराना आदि घटनाएँ प्रगतिवादी विचारों का प्रतीक है। इसप्रकार देवर भाभी के विवाह द्वारा लेखक ने प्राचीन परंपरा पर आघात कर नवीन क्रांतिकारी दृष्टिकोण को अपनाया और दो व्यक्तियों के जीवन को बर्बाद होने से बचाया।

इस उपन्यास का जीवन दर्शन, आशा, मानवीय भावना, जन–जागरण नवीन चेतना व उन्नति से उद्‌बुध्द प्रगतिशील दृष्टिकोण को समेटा हुआ है।

नागार्जुन के 'बाबा बटेसरनाथ' (1954) में यही दृष्टिकोण एक व्यापक स्वर में प्रतीत होता है। गाँव में होनेवाले अत्याचार, ग्रामीण जीवन आदि सबका तीन सौ साल का लेखा–जोखा इसमें बताया गया है। गाँव में पलनेवाली जातीयता, उसके आधार पर होनेवाले अत्याचार को प्रस्तुत किया है। असहयोग आन्दोलन और ब्रिटीश साम्राज्य के विरुध्द किए गए भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का वर्णन कर बरगद वृक्ष ने जैकिसुन को संघर्ष की चेतना प्रदान की। दयानाथ और जैकिसुन आदि ने मिलकर किसान सभा व नौजवान संघ की कमेटियों की स्थापना की जो अन्याय के विरुध्द कार्य करती थी। जैकिसुन, जीवनाथ, दयानाथ आदि के द्वारा ग्रामीण स्थिति में सुधार, संगठित शक्ति की सफलता का परिचायक है। इसप्रकार लेखक ने जन सहयोग द्वारा स्वाधीनता, शांति, प्रगति का सन्देश दिया है। किसानों का सुदृढ संगठन ही जमींदारों का विरोध करने में सफल हो सकता है। इस पर यहाँ प्रकाश डाला है।

फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' (1954) में ग्रामीण अंचल में काँग्रेसी राजनीति के साथ–साथ समाजवादी विचारधारा का भी प्रवेश हुआ इसके दर्शन प्रस्तुत उपन्यास में होते है। कॅामरेड गंगाप्रसाद सिंह यादव से प्रभावित कालीचरण जमींदारों को चेतावनी देता हुआ कहता है – "जमींदार से तहसीलदार से और अपने मैनेजर से भी जाकर कह दो, रैंयतों से जमीन छुडवाना हँसी ठट्टा नहीं। पार्टी के एकजूटी में प्रस्ताव पास होगया है, संघर्ष होगा संघर्ष। समझे।"[15] परिश्रमी संथालों का समाजवादी दल का सदस्य बनना, सामन्तवर्ग द्वारा संथालों को गाँव से बाहर निकालना, कालीचरण, बाबनदास को बहिष्कृत करना, संथालोंद्वारा डॉ.प्रशांत की सलाह लेना, संथालोंद्वारा जमींदारों पर धावा बोलना, संथाल, तहसीलदार हरगौरी का मारा जाना आदि घटनाएँ जनविद्रोह को स्पष्ट करती है जिससे प्रगतिवादी विचारीधारा स्पष्ट होती है।

निष्कर्ष :-

अतः हम कह सकते है कि उपन्यासकारों के भाव-भावना एवं विचारों को अभिव्यक्ति देनेवाले पात्रों का सृजन यहाँ हुआ है। प्रगतिवाद एवं मार्क्स के विचारों से प्रभावित ये उपन्यास मानवहीन, नवचेतना एवं अन्याय के खिलाफ क्रांति का आवाहन करनेवाले लक्षित होते है। जमींदारों द्वारा होनेवाला शोषण, रुढ़ि-परंपरा के नाम पर होनेवाले अत्याचार, धार्मिक व्यक्ति द्वारा होनेवाला अन्याय के खिलाफ आवाज प्रस्तुत उपन्यासों में उठाया है। 'बलचनमा' का बलचनमा जमींदारों के मनमानी, अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाता है। 'रतिनाथ की चाची' का ताराचरण किसानों का संगठन बनाकर जमींदारो को फटकारता है, तो भैरवप्रसाद गुप्त के 'गंगा मैया' का मटरू विधवा विवाह रचाकर समाज विघातक रुढ़ि-परंपराओं को ठुकराता है। 'बाबा बटेसरनाथ' में स्वातंत्र्यप्राप्ति का आंदोलन, 'मैला आँचल' में कालीचरण का कार्य भी प्रगतिवादी चेतना के प्रतीक है।

जमींदारों की मनमानी को थोंपना, कुप्रथा-रुढि मान्यताओं को ठुकराना, समानता, एकता की स्थापना करना, सामाजिक समानता की भाँवना बढाना प्रगतिवादी चेतना का लक्ष्य है। प्रस्तुत लक्ष्य प्राप्ति में ये उपन्यास सफल रहे है। ऐसा मुझे लगता है।

'बलचनमा' में 'किसान सभा' की स्थापना, किसान संगठन का निर्माण, 'रतिनाथ की चाची' मे ताराचरण द्वारा होनेवाला किसानों का संगठन, गंगा मैया में विधवा भाभी और देवर का विवाह होना, 'बाबा बटेसरनाथ' में दयानाथ द्वारा नौजवान संघ की स्थापना करना, 'मैला आँचल' में कालीचरण द्वारा संथालों का संगठन बनाना, जमींदारों पर धावा बोलना आदि घटनाएँ प्रगतिवादी चेतना की दर्शाती है। यहाँ स्पष्ट हे अतः ग्रामों ने अशिक्षित लोगों में भी अब अपनी अस्मिता का एहसास होने लगा है। परिणाम प्रगतिवादी चेतना की लहर दौडने लगी है। प्रसार माध्यम, राजनीतिक हक, शिक्षा प्रसार के कारण यह जागृति होने लगी है।

विभिन्न अंचलों के जन–जीवन की गतिविधियों पर दृष्टि डालते हुए उपन्यासकारों ने अपनी अनुभूति के आधारपर उनके जीवन दर्शन का चित्रण किया है। 'रेणु' के उपन्यासों में यदि नवनिर्माण से भरपूर प्रगत्यात्मक के मानवतावादी जीवन दर्शन का स्वर प्रमुख रुप से मुखरित हुआ है, तो नागार्जुन के उपन्यास भौतिकवाद के आधारपर वर्ग भेद से मुक्त समतापूर्ण जीवन दर्शन का निर्देश करते हुए अन्याय के विरुध्द संघर्ष के तीव्र प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण विकसित हुआ है। मानव–जीवन की एकता, समानता, स्वातंत्र्य व प्रेम का दृष्टिकोण उपन्यासों के मूल में निहित है। व्यक्ति के एकाकी जीवन की नही वरन् ग्राम अंचल की संपूर्ण मानवता के सामूहिक जीवन की प्रगति में उपन्यासकारों ने आस्था प्रकट की है। इन उपन्यासकारों का जीवन–दर्शन विश्व बंधुत्व की महत् भावना से परिपूर्ण है।

संदर्भ :-

1.

2. डॉ. सरिता माहेश्वर – प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, पृ. 7

3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल – रस मीमांसा, पृ. 271

4. राष्ट्रवाणी, पृ. 33

5. डॉ. रामदरश मिश्र – हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ. 113–114

6. राहुल सांकृत्यायन – साम्यवाद ही क्यों?, पृ. 7

7. नया समाज, पृ. 69

8. नया पथ, पृ. 467

9. नागार्जुन – रतिनाथ की चाची, पृ. 143

10. वही, पृ. 144

11. नागार्जुन – बलचनमा, पृ. 106

12. वही, पृ. 197

13. भैरवप्रसाद गुप्त – गंगा मैया, पृ. 128

14. वही, पृ. 107

15. फणीश्वरनाथ रेणु – मैला आँचल, पृ. 133